



पूर्वोत्तर प्रभा



(सिक्किम विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित अर्धवार्षिक शोध पत्रिका)

Journal Home Page: <http://supp.cus.ac.in/>

आदिवासी केंद्रित समकालीन हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त आर्थिक संघर्ष

अनुज कुमार

शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

ईमेल- anujk401@gmail.com

शोध-सारांश: विकास की अवधारणा सभ्य समाज की स्वार्थगत नीतियों पर टिकी है। जिसमें वह प्रकृति का मनचाहा दोहन करती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो विकास के नाम पर पूंजीवादी व्यवस्था का सबसे अधिक प्रभाव आदिवासी जीवन पर पड़ा है। जिन ज़मीनों पर उनका अधिकार था, जो जंगल उनके घर थे वो सब उनसे छिन गए। जिसके कारण आदिवासी, ठेकेदारों और भू-स्वामियों के बंधुआ मजदूर बनकर रहे गए। राष्ट्र विकास के नाम पर आदिवासी हितों को कुचला गया। पंचवर्षीय योजनाओं में जो विकास का मॉडल प्रस्तुत किया गया, उससे आदिवासी समाज को विस्थापन, बेरोजगारी, भुखमरी, अशिक्षा, वेश्यावृत्ति आदि के सिवाय मिला ही क्या है? आदिवासी जीवन को केंद्र में रखकर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। जिनमें उनके जीवन के संघर्ष को कलमबद्ध किया गया है। इस लेख में समकालीन हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन के आर्थिक पक्ष पर चर्चा की गई है साथ ही उन बिन्दुओं को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जिनसे आदिवासी समाज के भीतर एक विद्रोह की भावना पनप रही है।

सूचक शब्द : आदिवासी, अर्थ, विद्रोह, संघर्ष, विस्थापन, वेश्यावृत्ति, अशिक्षा

मूल लेख

आदिवासी शब्द आदि और वासी के संयोग से बना है। जिसका अर्थ मूल निवासी होता है। इस दृष्टि से आदिवासी किसी भी देश के मूल निवासी होते हैं। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए अनुसूचित जनजाति पद का प्रयोग किया गया है। ये भारत की आबादी का लगभग 8.6% हिस्सा है जो कि एक निश्चित भू-भाग में संगठित रूप में रहते हैं। उनकी अपनी बोली और संस्कृति है। बहुत से आदिवासी समुदाय जंगलों में निवास करते हैं। सभ्य समाज से दूर आदिवासी समाज मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित हैं। भूमंडलीकरण के दौर में अर्थ का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य की असीमित आवश्यकताओं को जन्म दिया है। आर्थिक आधार पर समाज को तीन भागों में विभाजित किया गया है- उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग। निम्न वर्ग के अंतर्गत आदिवासी समाज आता है जो कि अपना जीवन जीने के लिए निरंतर संघर्षरत है।

भारत को आजाद हुए 75 वर्ष हो गए हैं, किन्तु आज भी आदिवासी समाज की आर्थिक स्थिति दयनीय और सोचनीय बनी हुई है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताएँ भी उस तक नहीं

पहुँच पाई हैं। “सरकारों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, जमीन और जंगलों से आदिवासियों की बेदखली, उनकी सामुदायिक आर्थिक व्यवस्था का नाश आदि कारणों से आज भी आदिवासी पिछड़े हुए हैं।” (देबरे एवं खराटे, 2013, भूमिका से उद्धृत)

जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। आदिवासी समाज के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन खेती रही है। वह इस दृष्टि से जंगलों पर निर्भर रहा है, किन्तु विकास की आड़ में उन्हें जंगलों से खदेड़ दिया जाता है। जिसके कारण उन्हें अपने और अपने परिवार का पेट भरने के लिए दर-दर भटकना पड़ता है। आर्थिक अभाव उनके सम्मुख काल के समान खड़ा है। जो उन्हें अपने भीतर समाने को आतुर है। उससे बचने के लिए आदिवासी समाज को अपनी जमीन छोड़कर विस्थापन का दंश झेलना पड़ता है। बेरोजगारी और भुखमरी के कारण भी उन्हें अपना घर छोड़ना पड़ता है। ‘छैला संदु’ उपन्यास में मंगल सिंह मुंडा ने इस करुण कथा का चित्रण कुछ इस प्रकार किया है- “यहाँ एक आदिवासी परिवार रहता है। घर-परिवार के हाव-भाव से आभास होता है कि यह परिवार जीविकोपार्जन की तलाश में भटकते-भटकते यहाँ आकर टिक गया है। अपने गुजारे की तलाश में अपनी जान-माल की रक्षा हेतु भटकते एक इंसान का पड़ाव है।” (मुंडा, 2004, पृ. 18)

आदिवासी समाज के आर्थिक अभाव का चित्रण मनमोहन पाठक ने अपने उपन्यास ‘गगन घटा घहरानी’ में बड़ी ही संजीदगी से किया है। इस उपन्यास में झारखंड के पलामू क्षेत्र में निवास करने वाले उराव आदिवासियों के जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है। आज हम एक तरफ तो उत्तर आधुनिकता के दौर में जी रहे हैं, विकास की नावों में सवार होकर जंगलों को काटकर मेट्रो, बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ, पक्की सड़कें, मॉल आदि का निर्माण कर रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ एक समाज ऐसा भी है जो इस विकास की चकाचौंध से इतना दूर है कि उसका प्रकाश वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता है। वह तो अपना पेट भरने की जद्दोजहद में ही जीवन यापन कर रहा है। उसके लिए भूख का प्रश्न बड़ा है। आर्थिक रूप से कृषि पर निर्भर रहने वाले आदिवासियों को सूखा और आकाल के कारण अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अपनी भूख की आग मिटाने के लिए बंधुआ मजदूर बनना पड़ता है। आर्थिक संकट से जूझ रहे आदिवासियों की दयनीय स्थिति का जमींदार भी अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु लाभ उठाते हैं। इस तथ्य को उपन्यासकार मनमोहन पाठक ने उद्घाटित किया है। जब आकाल पड़ने के कारण खेत सूख जाते हैं तो उपन्यास के पात्र चेतू और दगडू अपना खेत जमींदार रायसाहब के पास गिरवी रख देते हैं जो उन्हें वापस नहीं मिल पाता है। उनके लिए तो अभाव से उपजी दरिद्रता से ग्रसित जिंदगी का शोषण ही स्थायी भाव बन कर रह जाता है।

श्रीप्रकाश मिश्र के उपन्यास ‘जहां बांस फूलते हैं’ में उत्तर-पूर्व मिजोरम में स्थित आदिवासी लुशेइओं के जीवन की त्रासदी को रेखांकित कर उनके आर्थिक अभाव के कारणों को उद्घाटित किया है। उपन्यास में मिजो मेहनत कर जंगल साफ कर धान लगाता है, किन्तु जब फसल बड़ी हो जाती है तो जमींदार उनकी फसल काट कर ले जाते हैं। उपन्यास में इस घटना का चित्रण कुछ इस प्रकार किया गया है- “भूख का मारा मिजो कुछेक वर्षों तक इंतजार करता था, फिर जंगल को साफ कर धान लगा जाता था, फसल जब तैयार होने को होती थी, तब अपना झोपड़ा बनाया जाता था। फिर एक दिन रात को इलाके के पुराने जमींदार रामनाथ लश्कर और मुश्ताक खांडकार अपने साथियों के साथ आ धमकते, इनके घरों को

उजाड़ फसल काट कर ले जाते और खेती लायक जमीन दो-चार साल के लिए कब्जा कर लेते थे।” (मिश्र, 1997, पृ. 69)

शासन की उपेक्षा का शिकार, आर्थिक अभाव से भरे जीवन और शोषण की मार झेलते आदिवासी जब कभी इसके विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद कर अधिकारों की मांग करते हैं तो उन्हें नक्सली कह दिया जाता है। इस उपन्यास में आर्थिक विषमता के कारण उपजे आदिवासियों के आक्रोश को भी चित्रित किया गया है। अभावों से उपजे इस आक्रोश को हमें संवेदना की दृष्टि से देखना चाहिए। सन् 1958 में मिजोरम में पड़े अकाल से उपजी भूख से बिलबिलाते मिजो के लिए भारत सरकार द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए जिसके चलते वहाँ 1966 में लालडेंगा के नेतृत्व में सरकार के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया था। आर्थिक विषमता से जूझ रहे आदिवासियों को सचेत करते हुए लालडेंगा उपन्यास में एक स्थान पर कहता है-“मिजो बंधुओं ! बहुत दिनों से ये धनी लोग, ये वाई लोग लोगों का सुख अपनी तिजोरियों में कैद रख चुके हैं। गरीबों का आहार उनके गोदामों में मूल्यवृद्धि की प्रतीक्षा करते करते सड़ रहा है। समय आ गया है कि वे अब अपनी तिजोरियों और गोदामों में महरूम हों। उनकी अट्टालिकाओं को गिरा दिया जाए और सारे बीज को इन धरती के बेटों- इन झुके लोगों में बाँट दिया जाए। समय आ गया है कि लुशाई हिल्स के सपूत उठें और इस निहंग धरती का भाग्य बदल दें।” (मिश्र, 1997, पृ. 5)

तेजिंदर ने अपने उपन्यास ‘काला पादरी’ में मध्य प्रदेश की उरांव जनजाति की आर्थिक विपन्नता का चित्र उकेरा है, जिसमें भूख की तड़प जान लेने को उतारू है। यह बड़ी दुःख की बात है कि आजादी के 75 साल बाद भी हमारे देश में एक ऐसा समाज है जो भूख के कारण अपनी जान गवा रहा है। शासन तंत्र विकास की आड़ में आदिवासियों को जंगलों से दूर कर रहा है साथ ही उनके साथ अमानवीय व्यवहार करने पर उतारू है। आदिवासियों की समस्याओं को समझकर उनके लिए शिक्षा और रोजगार को मुहैया कराना जरूरी है। जिससे वे भी मानवीय जीवन जी सके और देश की प्रगति में अपना योगदान दे पाएँ। ‘काला पादरी’ उपन्यास में आदिवासियों की दर्दनाक स्थिति और भूख का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है, जिसमें वे जंगलों की जहरीली जड़ी बूटियों के साथ बिल्ली और बंदरों का मांस खा रहे हैं। थाने में दर्ज रिपोर्ट में बताया जाता है कि “इस क्षेत्र के आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर उनका मांस खा रहे हैं।” (तेजिंदर, 2005, पृ. 21) अकाल पड़ने के कारण आदिवासियों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई है। भूख के कारण एक आदिवासी स्त्री और उसके दो बच्चे मर जाते हैं, जिसे उपन्यासकार ने कुछ इस प्रकार चित्रित किया है- “साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गई। उसने भी कई दिनों से कुछ खाया नहीं था।” (तेजिंदर, 2005, पृ. 21) यह आदिवासी जीवन का यथार्थ है जिसमें भूख, अभाव और गरीबी स्पष्टता से लक्षित होता है। वास्तव में ‘काला पादरी’ उपन्यास में भारत के सर्वाधिक उत्पीड़ित व उपेक्षित आदिवासियों की जीवन स्थितियों के अनेक पहलुओं को लेखक ने समाजशास्त्रीय दृष्टि, किन्तु साथ ही लेखकीय संवेदना से इस ढंग से चित्रित किया है कि भारतीय समाज की जटिलता भी उभरकर सामने आती है और साथ ही आदिवासियों के जीवन की पीड़ा का मार्मिक अंकन भी लेखक की कलम से होता है।” (चमनलाल, 2012, पृ. 166)

इस उपन्यास के मूल में भूख की समस्या है, जिसका चित्रण उपन्यासकार ने कुछ इस प्रकार किया है- “एक आदमी भूखा है और भूख की वजह से बीमार है। भूख एक, भूख दो, भूख तीन, भूख चार, भूख पाँच और भूख छः। एक ऐसा रिकॉर्ड जिसे दस्तावेजों में दर्ज करने वाला कोई नहीं। कोई गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड नहीं, कोई लिम्का नहीं, कोई थम्सअप नहीं। इस तरह जब वह भूख छह तक पहुँच जाता है तो उसे लगता है कि बस अब इसके बाद और कुछ नहीं। लेकिन वह अपने आसपास बहुत सारे लोगों से घिरा है। वे उसे गाँव की चौपाल पर लिटा देते हैं। उसे अन्न की जरूरत है, किन्तु अशिक्षा के कारण आदिवासी मानते हैं कि यह कोई भूत प्रेत का चक्कर है।” (तेजिंदर, 2005, पृ. 71)

भगवान दास मोरवाल का उपन्यास ‘काला पहाड़’ आदिवासी मेवातों के आर्थिक पिछड़ेपन को रेखांकित करता है। उपन्यास का कथ्य हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान की सीमा पर स्थित मेवात है। सरकार द्वारा समय-समय पर आदिवासियों के आर्थिक सुधार हेतु जो वायदे किए जाते हैं वो कभी पूरे नहीं हो पाते। उपन्यास में जब प्रधानमंत्री महुं नामक गाँव में आते हैं जो कि काले पहाड़ की घाटी में बसा है तो वहाँ का सरपंच अपनी आर्थिक स्थिति को उद्धाटित करते हुए कहता है- “माननीय प्रधानमंत्री जी जैसा कि आप जानते हैं हमारा यह इलाका बेहद गरीब और पिछड़ा हुआ है। यहां पिछले कई सालों से न के बराबर बारिश हो रही है, जिसके कारण सारे जोहड़ और तालाब सूख चुके हैं। मटर, जौ, चना जैसी फसलें पैदा होनी बंद हो गई हैं। इसलिए इलाके की ओर से चौबीसी की पहली मांग यह है कि मेवात में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएं मुहैया कराई जाएं और बरसों से मंजूर ‘मेवात नहर’ का निर्माण जल्दी शुरू कराया जाए।” (मोरवाल, 1999, पृ. 18) किंतु राज नेताओं द्वारा आदिवासियों के कल्याण के लिए जो घोषणा की जाती हैं वो सब खोखली हैं। न वहाँ स्कूल की स्थापना हो पाती है, न कोई अस्पताल बनता है, न ही रोजगार के लिए कुछ किया जाता है। इस दृष्टि से डॉ. कुंवरपाल सिंह की उपन्यास के संदर्भ में की गई टिप्पणी सटीक जान पड़ती है- “समूचा उपन्यास मानो इस भरोसा उठने की प्रक्रिया को उद्धाटित करने का अथक प्रयास है। इस क्रम में लेखक राजनीति, सत्ता, अर्थव्यवस्था, विकास की प्रक्रिया को सभी को खंगालता है और उनकी जिजीविषा तथा जीवट को भी रेखांकित करता है, जिन्हें निम्न जाति का और तिरस्कृत समझा जाता है।” (कलासवा, 2009, पृ. 255)

आदिवासियों के शोषण के तरीकों में एक महाजनी शोषण है, जिसमें आदिवासियों को मदद के नाम पर कर्जा दिया जाता है और फिर वह उससे वापस मांगा जाता है और न देने पर उनकी ज़मीनों को गिरवी रख लिया जाता है। इस संदर्भ में विनोद कुमार का उपन्यास ‘समर शेष है’ को देखा जा सकता है। इस उपन्यास में झारखंड के आदिवासियों पर हो रहे महाजनी शोषण का यथार्थ अंकन हुआ है। आदिवासियों की ज़मीनों को हड़प कर उन्हें दाने दाने को मोहताज कर दिया जाता है। वे मात्र बंधुआ मजदूर ही बनकर रह जाते हैं। उपन्यास में महाजन बिष्टू आदिवासियों को कर्ज दे-दे कर धीरे-धीरे सारी ज़मीनों का मालिक बैठता है- “कौन सा गाँव ऐसा था, जहाँ उसके कर्जदार नहीं थे। उन गाँवों की बहुत सारी जमीन का मालिक दरअसल वही था।” (कुमार, 2005, पृ. 7)

वेश्यावृत्ति जैसे कुकर्म करने पर भी आदिवासी स्त्रियाँ मजबूर हैं। आर्थिक अभाव उन्हें अपनी देह बेचने पर विवश कर देता है। कारखानों और खदानों में काम करती आदिवासी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति को अपना पेशा बना लेती हैं। ‘समर शेष है’ उपन्यास में हरेन्द्र मिश्र नामक पात्र आदिवासी महिला सावित्री को पैसा

देकर शारीरिक संबंध स्थापित करता है। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया उनकी आदत बन जाती है। पति के मना करने पर भी सावित्री बोलती है- “कुछ नहीं रखा इस फिजूल की बातों में... तुम क्या जानो... सब यही चाहते हैं हमसे...छोटे मालिक तो छोटे मालिक उनके सगे बाप को भी यह देह चाहिए और वह भी मुफ्त में...नहीं करनी मुझे अब ये बेगारी। मालिक से शरीर न नुचवाऊँ तो वे काम भी देंगे? नहीं... कभी नहीं। उससे अच्छी है ये वेश्यावृत्ति। यह देखो पाँच-पाँच के तीन नोट दे गया है वह भला आदमी।” (कुमार, 2005, पृ. 178)

निष्कर्ष: रूप में हम कह सकते हैं कि समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन के आर्थिक संघर्ष को उभारा गया है, जिसमें सरकारी कारिंदे, पुलिस, जमींदार, ठेकेदार आदि सब मिलकर उनका शोषण करते हैं। उपन्यासकारों ने आदिवासी समाज का यथार्थ चित्रण कर उनकी जरूरतों को तथाकथित सभ्य समाज के सामने रखा है। इस प्रकार उन्होंने आदिवासी जीवन के संघर्ष और उनके भीतर उपजे आक्रोश के कारणों की पड़ताल कर संवेदना के धरातल पर व्यक्त किया है। आदिवासी समाज को लेखकों ने बड़ी ही संजीदगी से समझते हुए उनके आर्थिक शोषण को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है जो कि विमर्श की एक नयी जमीन तैयार करते हैं। आदिवासियों का जीवन जंगलों पर टिका है, किंतु भूमंडलीकरण और विकासवादी अवधारणा के तहत जंगल काटे जा रहे हैं। इस दृष्टि से सबसे अधिक आदिवासियों का जीवन प्रभावित हुआ है। जल, जंगल, जमीन से वंचित होते समाज में विद्रोह और आक्रोश की भावना पनप रही है, जिसे सरकार तानाशाही ढंग से कुचलने का प्रयास करती है। आज हमें उनकी जरूरतों को समझना होगा साथ ही एक संवाद विकसित करना होगा जिसके चलते उनकी समस्याओं को समझकर उनका समाधान किया जा सके। साथ ही उन्हें भी रोटी, कपड़ा और मकान के साथ शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने का प्रयास करें जिससे कि उन्हें भी मुख्यधारा में शामिल किया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची

देबरे, शिवाजी और खराटे, मधु.(2013). *समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श*.

कानपुर: विद्या प्रकाशन.

मुंडा, मंगल सिंह .(2004). *छैला संदु*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.

मिश्र, श्रीप्रकाश .(1997). *जहां बांस फूलते हैं*. नई दिल्ली: यश पब्लिकेशन्स.

तेजिंदर. (2005). *काला पादरी*. नई दिल्ली: नेशनल पेपर बैक्स.

चमनलाल .(2012). *दलित साहित्य: एक मूल्यांकन*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस.

मोरवाल, भगवानदास .(1999). *काला पहाड़*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.

कलासवा, बी.के. (2009). *हिंदी में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यास का समीक्षात्मक अध्ययन*. नई दिल्ली: मयूर प्रकाशन.

कुमार, विनोद .(2005). *समर शेष है*. नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान.